परिचय

मुझे याद है कि जब मैं पहली बार फरवरी 2000 में रमेश बलसेकर के प्रवचन में शामिल हुआ, तो मुझे वाकई यह समझ नहीं आ रहा था कि किस बात पर इतनी हलचल मच रही थी। मैंने उन्हें वहां एकत्रित लोगों से यह कहते सुना कि सबकुछ ईश्वर की मर्जी से होता है। अगले कुछ रविवारों तक मैं वहाँ जाता रहा। मैं सोच रहा था कि आखिर इतनी साधारण सी बात से लोग इतने मंत्रमुग्ध क्यों हैं जो वे दुनिया भर से सुनने के लिए आते हैं? मैं हर रविवार को जाता रहा और मैंने उनकी शिक्षा के कई पहलुओं को ग्रहण भी किया। परंतु वह क्या बात थी जो मेरी समझ में नहीं आ रही थी?

मुझे हमेशा से यह स्पष्ट था कि जिन बड़े हादसों ने तब तक मेरे जीवन को ढ़ाला था, वे स्वत: घटित हुए थे और उनमें मेरी कोई क्रियाशील भूमिका नहीं थी। मैंने 14 वर्ष की उम्र में अपने पिता को खो दिया था। साफ़ था कि यह मेरे किसी कारण से नहीं हुआ था। इसी तरह, दूसरी स्थिति तब आई जब मैंने 24 साल की उम्र में काम की बागडोर संभाली और तीस लोगों के नेतृत्व का जिम्मा लिया, जिनमें सभी मुझसे उम्र में बड़े थे।

यदि ऐसा ना होता तो कंपनी बंद हो जाती क्योंकि सिनियर प्रबंधकों ने एक प्रतियोगी कार्य शुरू करने के लिए मेरी कंपनी को छोड़ दिया था। मैंने निश्चित रूप से इस स्थिति को भी नहीं चुना था, बस यह घट गयी।

मुझे याद है कि किशोरावस्था में मेरे सामने ऐसे कई भयभीत करने वाले मौके आए, जैसे कि परीक्षा परिणाम का इंतज़ार, जहाँ चिंताएं होंगी, और मैं खुद अपने मन में दोहराता:

1. चिंता करने की कोई वजह नहीं है। जो भी होना होगा वह हो कर रहेगा, चाहे मैं कितनी भी चिंता कर लूँ।
2. और अगर उसे नहीं होना होगा, तो चिंता करके मैं अपना बहुत ज्यादा समय नष्ट करूंगा।

निःस्संदेह यह विचार मन को काफ़ी तार्किक लगे, लेकिन इन्होंने मेरे भीतर चल रही 'बकबक' को कम करने में कोई खास मदद नहीं की। बल्कि, उन्होंने मेरे मन में चल रही बकबक को और बढ़ा दिया और मेरे मन ने अब इन दोनो विचारों को किसी मंत्र की तरह दोहराना शुरू कर दिया। यह साफ़ था कि 'सहमति' इस मन के पार कहीं और ही थी। यह मन एक कुत्ते की तरह था जो बार-बार अपनी ही पूंछ का पीछा किए जा रहा था। कई वर्षों के बाद जब मैं रमेश के मार्गदर्शन में आया तो मेरी समझ में यह बात आई कि 'बौद्धिक चेतना' और 'हृदय के भीतर की चेतना' में क्या अंतर है।

किसी भी उपदेश के मूल्य का अंदाजा हमारे दैनिक जीवन पर

उससे होने वाले प्रभाव से लगाया जाता है। मेरे जीवन में ऐसे कई मौके आए जब इन उपदेशों के मार्गदर्शन ने जीवन के बारे में मेरी समझ को काफ़ी हद तक बदल दिया।

मैं एक छोटा सा उदाहरण दूँगा। मुझे याद है कुछ महिने पहले एक दिन मैं अपने एक विदेशी मित्र और उसकी ग्यारह वर्षीय बेटी को लेकर खरीदारी के लिए एक हस्तशिल्प की दुकान पर गया। मेरे मित्र की बेटी अपने दोस्तों के लिए कुछ उपहार खरीदना चाहती थी, मगर उसकी माँ ने मुझे उसके दुविधापूर्ण स्वभाव के बारे में पहले ही सावधान कर दिया और इसलिए ये बेहतर था कि मैं घर चला जाऊँ और वे बाद में आएँ। मगर मैंने रुकने का फैसला किया क्योंकि उन्हें वापस जाने के लिए एक सवारी की ज़रूरत थी। मैं देखने लगा कि मेरे मित्र की बेटी किस तरह दुकान की शेल्फ से कैश काउंटर तक बार-बार उपहार बदलने आ-जा रही थी। वह निश्चित रूप से खुश नहीं थी। उसके चेहरे की त्योरियाँ साफ़ दिख रही थी और वह यह तय नहीं कर पा रही थी कि कौन-सा उपहार लेना है। यह साफ़ था कि उसकी दुविधा में उसकी कोई गलती नहीं थी, बल्कि जैसा कि रमेश कहते हैं इसमें उसके 'जनू' (genes) और उसके 'संस्कारों' (conditioning) की भूमिका थी। आखिर कोई भी दुविधाग्रस्त होना क्यों पसंद करेगा? चिड़चिड़ापन या झुंझलाहट की जगह दया के भाव ने ले ली और मैं यह समझने लगा कि किस तरह दृष्टिकोण में बदलाव से हमारी प्रतिक्रिया बदल सकती है। मैं यह समझने लगा कि लड़की की माँ यह सोच कर चिंतित हो रही थी कि बेटी के दुविधाग्रस्त स्वभाव से मैं झुंझला जाऊंगा। और इसलिए मैं माँ को आश्वस्त करने लगा कि सबकुछ